

स्थल अर्थशास्त्र

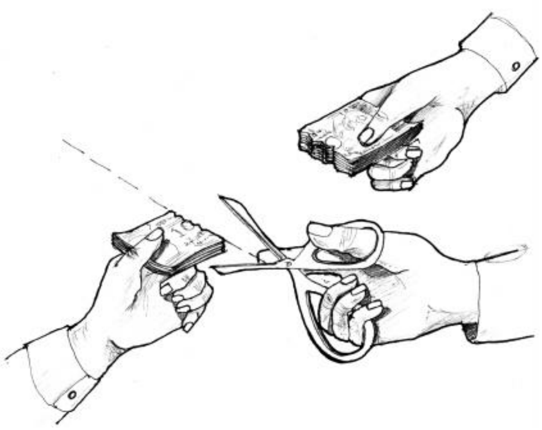
अमित भादुड़ी

स्थूल अर्थशास्त्र की बात करें, तो उसमें क्या चीज़ मूल्यवान है? आप यह कैसे बताएँगे कि क्या महत्वपूर्ण है और क्या नहीं? स्थूल अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण क्या है या जानने योग्य क्या है, इसका पता आपको स्वयं को एक अलग-थलग व्यक्ति के रूप में देखकर नहीं चलेगा। इसका ज्ञान व्यक्ति आधारित 'आत्म-अवलोकन' से प्राप्त नहीं होगा। परस्पर विरोधी हितों वाले पक्षों - जैसे विक्रेता और खरीददार के बीच रणनीतिक जानकारी का फर्क, एक गैर-पारदर्शी सरकार जिसके पास नागरिकों से छिपाने को काफी कुछ हो, जिस चीज़ का सम्बन्ध खेल सिद्धान्त (game theory) से है - जैसे

कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो सूक्ष्म अर्थशास्त्र की सारी बातों का सम्बन्ध एक व्यक्ति से - मुझसे या आपसे - होता है। यह व्यक्ति तथाकथित रॉबिंसन क्रूसो नामक अमूर्त 'पद्धति-जनित व्यक्ति' है जो पड़ोसियों अथवा समाज से अलग-थलग है या बहुत कम प्रभावित होता है। एक व्यक्ति क्या खरीदता है? वह क्या चीज़ है जो वह नहीं खरीदता? अपने बजट की सीमाओं में वह निर्णय कैसे करे, वगैरह? (आप यह सवाल नहीं पूछते कि बजट की सीमाएँ कैसे पैदा होती हैं।) सूक्ष्म अर्थशास्त्र इसी की बात करता है। यानी कोई व्यापारी या गृहिणी या उपभोक्ता या उत्पादक जो बाज़ार में अकेले अलग-थलग कामकाज करे। यह जानकारी कब हमें गुमराह करती है? यह वह सवाल है जो स्थूल अर्थशास्त्र (macro-economics) के कोर को परिभाषित करने के लिए पूछा जाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखें तो स्थूल अर्थशास्त्र का मतलब यह नहीं है कि जब एक व्यक्ति था तो वह सूक्ष्म था और यदि आप उसे बढ़ाकर दस या दस लाख व्यक्ति कर देंगे तो उनका योग स्थूल हो जाएगा। यदि आप दस व्यक्ति ले लें तो बात दस गुना बड़ी हो जाएगी मगर वह स्थूल अर्थशास्त्र नहीं बन जाएगी! इसके बावजूद, फिलहाल जो स्थूल अर्थशास्त्र है वह ठीक यही करता है, और यह एक समस्या है। स्थूल अर्थशास्त्र के इस नज़रिए में जिस रूपक का इस्तेमाल किया जाता है वह है एक प्रतिनिधि-मूलक, असम्भाव्य रूप से तार्किक और लाभ को अधिकतम बनाने को आतुर व्यक्ति का। यह नज़रिया आजकल कुछ प्रतिष्ठित पश्चिमी विश्वविद्यालयों में काफी लोकप्रिय है। यदि आप यह देखें कि वहाँ कोर स्थूल अर्थशास्त्र में क्या चल रहा है, तो पाएँगे कि उसमें ढेर सारा गणित है और वह गणित अधिकतम बनाने को उतारू ऐसे तार्किक व्यक्ति के आधार पर निकलता है जो सर्वथा अलग-थलग काम करता है और उसके पास बहुत लम्बा (वास्तव में अन्तहीन) समय है और बाज़ार से उसकी कड़ी महज़ उसके बजट और प्रचलित कीमतों के ज़रिए है। आप एक ऐसे अधिकतम बनाने को उत्सुक व्यक्ति की कल्पना करते हैं और फिर कहते हैं कि ऐसे व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या है। सिद्धान्तों की यह किस्म इसी तरह काम करती है। एक प्रतिनिधिमूलक व्यक्ति में n का गुणा कर दीजिए, तो बस हो गया। 'पद्धतिगत व्यक्तिवाद' इसी तरह काम करता है, और हाल के वर्षों में स्थूल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कई नोबेल पुरस्कार दिए गए हैं क्योंकि इसका असरदार गणित एक सुगठित बाज़ार अर्थ-व्यवस्था में 'राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त व्यक्तिगत चुनाव की स्वतंत्रता' को आधुनिक पूँजीवाद के एक कामकाजी मॉडल के तौर पर महिमामण्डित करता है। मगर यह एक गलत प्रस्थान बिन्दु

है। उम्मीद की जानी चाहिए कि हालिया संकट हमें यह देखने को विवश करेगा कि यह एक गलत नज़रिया है।



फिर भी, ज़ाहिर है, अर्थशास्त्र एक ऐसा विषय है जहाँ गलत नज़रिए वाली और सहजबुद्धि के विपरीत मान्यताएँ चलती रह सकती हैं। ऐसा उनकी प्रासंगिकता के कारण नहीं बल्कि उनके विचारधारात्मक निहितार्थों के चलते और पारितोषिकों व शक्तिशाली निहित स्वार्थों के ज़रिए खुद को जिलाए रखने की उनकी ताकत की वजह से है। आप ज़रूरी बीजगणित सीखकर किसी जाने-माने विश्व-विद्यालय में प्रोफेसरी पा जाएँगे, शायद नोबेल पुरस्कार भी हासिल कर लें। इसके आधार पर आपको एक बौद्धिक सम्मान हासिल होगा ताकि आप उन चीज़ों को प्रचारित कर सकें जो शक्तिशाली निहित स्वार्थ सुनना पसन्द करते हैं। और फिर आप उसी राह पर चलते चले जाते हैं क्योंकि धीरे-धीरे वह आपका भी निहित स्वार्थ बन जाता है।

स्थूल अर्थशास्त्र को समझने की वास्तविक शुरुआत करने के लिए पहली बात यह समझने की है कि स्थूल अर्थशास्त्र *संघटन की भ्रान्ति* की छानबीन करता है: *जो चीज़ व्यक्ति के लिए सत्य है वह समाज के लिए सत्य नहीं होती*। कई जगहों पर हम यह सवाल पूछते हैं: *सम्पूर्ण क्यों उसके हिस्सों का योग नहीं होता?* और यही सवाल वास्तव में स्थूल अर्थशास्त्र की बुनियाद है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में इस सवाल का सबसे बढ़िया जवाब कीन्स (और उनसे कुछ वर्ष पहले स्वतंत्र रूप से पोलैंड के अर्थशास्त्री कालेकी) ने दिया था। निस्सन्देह वे बीसवीं सदी के सबसे प्रभावशाली अर्थशास्त्री हैं। आपको यह समझना होगा कि स्थूल अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इसी बात से है कि सम्पूर्ण उसके हिस्सों के योग से भिन्न होता है। *क्यों? क्योंकि जो बात व्यक्ति के लिए सत्य है वह समाज के लिए सत्य नहीं होती*। कीन्स इसकी व्याख्या कई तरह से करने की कोशिश करते हैं क्योंकि वे जो प्रस्तुत कर रहे थे वह एक अपेक्षाकृत सरल मगर नया विचार

था जिसने अर्थशास्त्र की दिशा ही बदल दी।

कुछ उदाहरण देखते हैं।

किफायत का विरोधाभास (paradox of thrift) आप सब जानते हैं और आप में से कई लोग शायद पढ़ाते भी होंगे। एक अतिशय किस्म का उदाहरण लें तो, यदि सब लोग अपनी पूरी आमदनी की बचत करें तो ज़ाहिर है माँग बचेगी ही नहीं। तो क्या इस तरह की बचत ठीक है? यदि आप यह सवाल किसी दस साल के बच्चे से पूछ सकते हैं, तो ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ने वाले छात्र से तो पूछ ही सकते हैं!

एक और उदाहरण लीजिए: *वेतन कटौती विवाद* जो वास्तव में खेल सिद्धान्त का एक अनुप्रयोग है। मान लीजिए एक फर्म है जो वेतन में कटौती करती है और अपनी लागत कम कर लेती है। इससे फर्म को बाज़ार में अपना अंश बढ़ाने में मदद मिलती है क्योंकि कम लागत के दम पर वह ज़्यादा प्रतिस्पर्धी हो जाती है। मगर यदि अधिकांश अन्य प्रतिस्पर्धी फर्में भी लागत कम कर लें, तो क्या इससे मदद मिलेगी? नहीं, क्योंकि तब *तुलनात्मक* स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। अब थोड़ा आगे बढ़ते हैं, वर्तमान परिवेश में आते हैं। हम वैश्वीकरण करना चाहते हैं। मान लीजिए, हम चाय उत्पादन की अपनी लागत कम कर लेते हैं। तो हम क्या हासिल करने की उम्मीद करते हैं? हम उम्मीद करते हैं कि हमारा निर्यात प्रदर्शन बेहतर होगा। यह रणनीति व्यापार के उदारीकरण का एक बड़ा हिस्सा जो है। हम निर्यात बढ़ाने की और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ज़्यादा प्रतिस्पर्धी बनने की उम्मीद करते हैं। यह सरकार की मंशा है। मान लीजिए हमारे सारे पड़ोसी भी ऐसा ही करते हैं। कम-से-कम चाय या कपड़ों के बारे में तो वे ऐसा नियमित रूप से करते ही रहते हैं। क्या यह वेतन कटौती जैसी ही स्थिति नहीं है? तो एकतरफा लागत कटौती या प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ.डी.आई.) में रियायतें आपको कहाँ छोड़ती हैं? आम तौर पर यह 'नीचे की ओर एक दौड़' होती है जिसमें तुलनात्मक स्थितियाँ अपरिवर्तित रहती हैं।

एक और उदाहरण देखिए: आप प्रलोभन (incentives) देकर उद्योग को आकर्षित करना चाहते हैं। तो गुजरात में जनाब मोदी उद्योगों को प्रलोभन देते हैं। पश्चिम बंगाल में सी.पी.एम. के मुख्यमंत्री भट्टाचार्य महाशय भी ऐसा ही करते हैं और उड़ीसा के नवीन पटनायक भी। इस प्रक्रिया में होता क्या है? सब लोग नीचे की ओर दौड़ की होड़ के खेल में शामिल हैं, और फायदा किसे होता है? उद्योगपतियों को। मैं ऐसे कई उदाहरण दे सकता हूँ। आप निजी उद्योग को प्राकृतिक संसाधनों – ज़मीन, खनिज, जंगल, पहाड़, पानी और तटरेखा – के मामले में रियायतें देते हैं। यह भी नीचे की

ओर एक दौड़ है जिसमें निजी उद्योगों का फायदा होता है। ये सारे उदाहरण वेतन कटौती विवाद के समान हैं, बचत और किफायत के विरोधाभास के समान हैं। ये सब इस बात के उदाहरण हैं कि जो बात व्यक्ति के लिए सत्य है, वह ज़रूरी नहीं कि समाज के लिए भी सत्य हो। और व्यक्तिगत निर्णयों के स्थूल परिणामों को समझने के लिए तर्क का यह तरीका अनिवार्य है।

एक अन्तिम उदाहरण। आजकल लगभग पूरे कॉर्पोरेट विश्व में यह बहुत आम है और जाना-माना है। हरेक कॉर्पोरेट मैनेजर, हरेक सी.ई.ओ., सिर्फ भारत में ही नहीं, जर्मनी, इंग्लैंड, अमरीका, कहीं भी कहता है कि कॉर्पोरेशन को ज़्यादा कार्यक्षम होना चाहिए, ज़्यादा 'दुबला-पतला और भूखा' होना चाहिए। यानी कम लोगों को ज़्यादा उत्पादन करना चाहिए। मसलन, आँकड़े बताते हैं कि टाटा ने हाल में स्टील उत्पादन में अपनी श्रम-शक्ति को आधा कर दिया है और फिर भी वे बेहतर टेक्नोलॉजी की मदद से पाँच गुना ज़्यादा उत्पादन कर रहे हैं। मान लीजिए सब लोग इस तरह से रोज़गार में कटौती कर देते हैं, जिसे मैनेजमेंट की भाषा में 'डाउन-साइज़िंग' कहते हैं (जिसका मतलब होता है कि श्रमिकों की संख्या में कटौती करना और उत्पादन का वही स्तर बनाए रखना या बढ़ा देना)। यह भी मान लेते हैं कि सब लोग वेतन में आनुपातिक वृद्धि किए बगैर श्रमिक दल में कटौती कर पाते हैं। क्या आप बता सकते हैं कि क्या होगा? आपको वही असर देखने को मिलेगा जो किफायत के विरोधाभास में दिखा था। इन चीज़ों को खरीदेगा कौन? हो सकता है कि स्टील जैसे किसी खास क्षेत्र में यह उतना स्पष्ट न हो, मगर यदि हम कई सारे उद्योगों को एक साथ रखकर देखेंगे तो उसी तरह की समस्या पैदा हो जाएगी।

यही कारण है कि कीन्सनुमा और गैर-कीन्सनुमा (तथाकथित नव-क्लासिकल) स्थूल अर्थशास्त्र के बीच एक बुनियादी अन्तर है। अन्तर चन्द समीकरणों में नहीं है। यह महज़ इतना कहता है कि यदि आप बाज़ार के लिए उत्पादन कर रहे हैं (मार्क्स कहेंगे कि आप माल का उत्पादन कर रहे हैं, अर्थात् सिर्फ स्व-उपभोग के लिए नहीं बल्कि एक गैर-वैयक्तिक बाज़ार के लिए उत्पादन कर रहे हैं), तो आपको पता होना चाहिए कि बाज़ार इसे खरीदेगा, और यदि आप चाहते हैं कि बाज़ार इसे खरीदे तो आपको पता होना चाहिए कि क्या इसकी माँग है। अलबत्ता, माँग लोगों की पसन्द-नापसन्द से नहीं बल्कि क्रय क्षमता से तय होती है। यदि आप सबके वेतन में कटौती कर देते हैं, तो आप समेकित माँग की समस्या का सामना करेंगे। कीन्स कई अन्य अर्थशास्त्रियों (जिन्हें अल्प-उपभोगवादी कहते हैं) से अलग हैं क्योंकि उन्होंने कहा था कि यदि

आप वेतन कटौती करते हैं, तो अन्य तरीके हैं जिनकी मदद से आप समेकित क्रय क्षमता बनाए रख सकते हैंः किसी बन्द अर्थ-व्यवस्था में माँग में इज़ाफा करने के लिए आप निवेश – सार्वजनिक या अन्य निवेश – बढ़ा सकते हैं।

तो छात्रों को यह बुनियादी बात समझनी चाहिएः *स्थूल अर्थ-व्यवस्था में माँग एक समस्या हो सकती है और माँग की इस समस्या को आप व्यक्ति को देखकर नहीं समझ पाएँगे*। और अब सैद्धान्तिक सूझबूझ आती है। चूँकि व्यक्तियों की आमदनी प्रायः स्थिर होती है, इसलिए हम जानते हैं कि किसी कीमत पर वे कितनी माँग पैदा कर सकते हैं। यदि मैं खुद अपने बारे में या अपने में से किसी के भी बारे में सोचूँ, तो हमारी आमदनी स्थिर है और माँग का नीचे सरकता ग्राफ समझ में आता है। मगर जब हम समूची अर्थ-व्यवस्था के बारे में सोचते हैं, तो समेकित माँग कहाँ से पैदा होती है? यह वास्तव में एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक योगदान थाः *माँग खर्च से पैदा होती है*।

यदि मैं कहूँ कि खर्च ही वह चीज़ है जो आमदनी को जन्म देती है, तो मैं इसे सही कैसे साबित करूँगा क्योंकि यह अकेले व्यक्ति के सहजबोध के तो खिलाफ जाता है? यह 'आवर्धित प्रभाव' (multiplier) का विचार है। यह स्थूल अर्थशास्त्र का सम्भवतः सबसे शक्तिशाली विचार है। आप यह अवधारणा अलग-अलग स्तर की बीजगणितीय नफासत के साथ सिखा सकते हैंः कन्वर्जेंट (अभिसारी) ज्यामितीय शृंखला, मैट्रिक्स (आव्यूह) बीजगणित, वगैरह। अलबत्ता, आप इसे सरलतम तरीके से भी सिखा सकते हैं, जो सहजबुद्धि के साथ मेल खाए।

विचार मूलतः यह है कि मान लीजिए सरकार राष्ट्रीय राजमार्ग बनाने पर एक रु. या 10 लाख रु. अतिरिक्त खर्च करने का निर्णय करती है। तो मुझे यह पैसा आम तौर पर एक श्रमिक के रूप में नहीं बल्कि एक ठेकेदार के रूप में मिलता है। अब मैं यह पैसा अन्य लोगों पर, जैसे निर्माण मज़दूरों पर खर्च करता हूँ। मज़दूर कुछ पैसा तो प्रवासी मज़दूर के रूप में घर ले जाने के लिए बचाकर रखते हैं और बाकी अन्य लोगों पर, जैसे किराने वगैरह पर खर्च कर देते हैं। यानी पैसा हाथ बदलता है। यदि आप यह मानें कि हर व्यक्ति थोड़ी बचत करता है, मतलब यदि सरकार 1 रु. खर्च करती है, और अगला व्यक्ति 0.8 रु. खर्च करता है, और अगला और भी कम खर्च करता है, मान लीजिए वह अपनी आमदनी का 80 प्रतिशत यानी (0.8)(0.8) = (0.64) खर्च करता है, और अगला और भी कम खर्च करता है... यह क्रिया इस लेक्चर रूम में चलती जाती है और जब तक आखिरी व्यक्ति का नम्बर आता है, वह खर्च की उस मूल इकाई का एक नगण्य अंश खर्च करता है। यह कन्वर्जेंट शृंखला की अवधारणा है। आप इसे

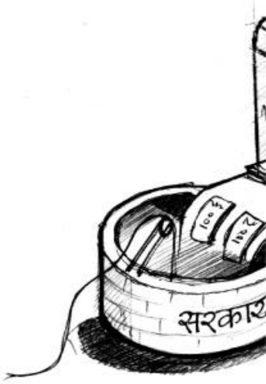
सूत्र की मदद से पढ़ा सकते हैं। या यदि आप चाहें तो सूत्र को छोड़ सकते हैं और इस बात पर ज़ोर दे सकते हैं कि यह श्रृंखला अन्ततः कन्वर्ज करेगी बशर्ते कि इसमें गिरावट आती रहे क्योंकि हर चक्र में बचत की वजह से खर्च में थोड़ा लीकेज होता है। मगर इससे पता चलता है कि असर में आवर्धन होगा। आवर्धित असर देखने के लिए हमें पूरी श्रृंखला को जोड़ना होगा – $1 + 0.8 + (0.8)^2 + \ldots$। सरकार शुरुआती असर पैदा करने के लिए खर्च करती है। आप इसका अन्दाज़ महज़ सहजबुद्धि के आधार पर कदापि न लगा पाते और अर्थशास्त्र के ज्ञान के बगैर कोई बैंकर इसे अपने अनुभव से नहीं जान पाएगा। एक आम राजनीतिज्ञ इसे नहीं समझेगा। यह अर्थशास्त्र द्वारा प्रशिक्षित सहजबोध का एक उदाहरण है। तो जब सरकार अपने बजट में कटौती करती है, तो वह सिर्फ इतने-इतने डॉलर की कटौती नहीं कर रही है, जैसा कि आप टीवी पर सुनते हैं। इस कटौती के उपरोक्त आवर्धित असर होंगे।

संघटन की भ्रान्ति, यानी जो बात व्यक्ति के लिए सत्य है वह समाज के लिए सत्य नहीं होती, से दो बातें निकलती हैं। पहले तो ये उदाहरण निकलते हैं, जैसे वेतन कटौती, किफायत का विरोधाभास वगैरह। और फिर इनके आधार पर आप आवर्धित असर तक पहुँचते हैं – अर्थात् मेरे ऊपर खर्च किया गया एक रुपया समय के साथ अन्तहीन घटती श्रृंखला के ज़रिए वास्तव में पाँच रु. (उपरोक्त उदाहरण में) के बराबर हो जाता है। और तब आप देख सकते हैं कि यह एक रुपए से कहीं ज़्यादा साबित होता है। इसका आवर्धित असर होता है क्योंकि एक व्यक्ति का खर्च दूसरे की आमदनी बन जाता है। यह एक ऐसी बात है जिसे 'पद्धतिगत व्यक्तिवाद' पर आधारित सिद्धान्त के अन्तर्गत पकड़ पाना असम्भव है। आवर्धन असर कितना होगा, यह लीकेज पर निर्भर करता है, जो बचत की सीमान्त प्रवृत्ति का विलोम है।

बतौर शिक्षक हममें यह प्रवृत्ति होती है कि ये सूत्र परोसकर परिशुद्धता पर ज़ोर दें। यह सही है कि सूत्र हमारे विचारों को पैना बनाने के लिए ज़रूरी हैं, मगर इन सूत्रों के पीछे जो विचार हैं वे पहले आते हैं और सूत्रों से ज़्यादा महत्व रखते हैं। मैं कहूँगा कि स्कूल में छात्रों का परिचय विचारों से कराया जाना चाहिए, यह दबाव नहीं



होना चाहिए कि वे सूत्र रट लें। उपरोक्त उदाहरण में सीमान्त बचत की प्रवृत्ति एकरूप 0.2 है। इसमें अनन्त ज्यामितीय शृंखला (1/0.2) = 5 पर कन्वर्ज हो जाती है। मगर जो बात समझना ज़्यादा महत्वपूर्ण है, वह यह है कि हर चक्र में खर्च की वजह से वास्तविक आमदनी पैदा होती है। ऐसा उत्पादन व रोज़गार की वजह से होता है, जैसा कि उपरोक्त उदाहरण में बताया गया है। यह तब तक सम्भव है जब तक अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता मौजूद है – बेरोज़गार श्रमिक और अतिरिक्त क्षमता। वास्तव में सही मायने में पूर्ण रोज़गार या पूर्ण क्षमता जैसी कोई चीज़ नहीं होती। उदाहरण के लिए, मज़दूर ओवरटाइम काम कर सकते हैं, और मशीनों का उपयोग एक से अधिक पालियों में किया जा सकता है, ताकि उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ माँग में जो वृद्धि होगी उसके साथ मुनाफा और मज़दूरी भी बढ़े। इस सन्दर्भ में अनन्त शृंखला का योग करके कुल प्रभाव की गणना एक सन्निकटन होगा, एक मायने में यह एक सीमासूचक मूल्य होगा जबकि वास्तविक मूल्य कम होगा; इसका मतलब यह है कि यदि आप माँग में निवेश के आवर्धित असर का आकलन करना चाहते हैं, तो वास्तविक परिस्थिति में इसकी गणना कहीं अधिक पेचीदा तरीकों से करनी होगी। अलबत्ता, यह यकीनन सही है कि हम छात्रों को जो केन्द्रीय विचार समझाना चाहेंगे वह यह है कि *हर अतिरिक्त रुपया खर्च करने पर माँग पर उसका आवर्धित असर होता है*। यह बात एक व्यक्ति के लिए सही नहीं है, जिसका खर्च उसकी आमदनी से निर्धारित होता है, न कि खर्च से उसकी आमदनी निर्धारित होती है। तो व्यक्ति और समाज के बीच साम्य की अनुपस्थिति के साथ हम बात को विराम देते हैं। स्थूल अर्थशास्त्र अध्यापन की यह सबसे महत्वपूर्ण बात है।[1]



स्थूल अर्थशास्त्र में एक और बात है। इसका सम्बन्ध इस बात से है कि धन (money) क्या होता है। धन क्या है? एक तरह से यह अर्थशास्त्र की सबसे मुश्किल चीज़ है। बहरहाल, यदि आप इसके मर्म को देखें, तो इसका सम्बन्ध मात्रा सिद्धान्त (quantity theory) से नहीं है (यह MV = PT नहीं है, मेहरबानी करके वह सब भूल जाइए)। हमें तो बस दो बातें कहने की ज़रूरत है। पहली हैः धन की बुनियादी भूमिका क्या है? मैं यह घड़ी बेचना चाहता हूँ और मान लीजिए आप कहते हैं कि आप इसे 200 रु. में खरीदेंगे। तो कीमत हुई 200 रु.। आप कहेंगेः ठीक है, ये रहे 200 रु., घड़ी मुझे दे दीजिए। तब मैं यह नहीं कह सकता कि मैं 200 रु. कागज़ के नोट के रूप में स्वीकार नहीं करूँगा

1 ये कुछ विचार हैं जो अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं बजाय 'आवर्धन प्रभाव' की औपचारिक व्युत्पत्ति के।



(हाँ, मैं कीमत बदल सकता हूँ)। मैं यह भी नहीं कह सकता कि घड़ी के बदले मैं कागज़ी नोट की बजाय आपका कोई आभूषण लूँगा। मैं कानूनी तौर पर यह नहीं कह सकता। मैंने एक कीमत बताई है और हम सबको एक सामान्य, स्वीकार्य विनिमय वस्तु के रूप में कीमत बतानी होगी। यह धन की पहली भूमिका हैः एक सामान्य विनिमय वस्तु उपलब्ध कराना। अलबत्ता, यदि मैं 200 रु. में बेचना चाहता हूँ और आप मुझे 4 डॉलर (लगभग 200 रु.) देते हैं, तो मैं इन्कार कर सकता हूँ। रुपया (भारत में) एक कानूनी दस्तावेज़ (legal tender) है। यदि आप एक नागरिक हैं और भारत के निवासी हैं, तो आपको देश में सभी लेन-देन के लिए रुपए को एक कानूनी दस्तावेज़ के रूप में स्वीकार करना होगा। मैं कोई भी अन्य मुद्रा अस्वीकार कर सकता हूँ। हो सकता है कि मैं डॉलर स्वीकार न करूँ। मैं शायद यूरो स्वीकार न करूँ। मैं सोना भी अस्वीकार कर सकता हूँ। मगर कानूनी तौर पर मैं रुपया स्वीकार करने को बाध्य हूँ। *कानूनी दस्तावेज़* होने का यही अर्थ है। कानूनी तौर पर मैं इसे स्वीकार करने को बाध्य हूँ।

और यह एक ऐसी चीज़ है जिसका निर्माण सरकार रिज़र्व बैंक से उधार लेकर, घाटे की वित्त व्यवस्था के तहत कर सकती है। इसका अर्थ क्या है? रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया नोट छापता है; इसके बदले में सरकार रिज़र्व बैंक को एक प्रॉमिसरी नोट के ज़रिए बताती है कि वह 1,00,000 रु. की कर्ज़दार है और रिज़र्व बैंक उसे उतनी मुद्रा के नोट सौंप देता है। एक बार धन सरकार के हाथ में आ जाने पर, सरकार इसे खर्च कर सकती है और हम हरेक लेन-देन में इसे स्वीकार करने को बाध्य हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि सरकार की क्रय क्षमता असीमित है।

अब ज़रा इन दोनों बातों को जोड़कर देखिए। सरकार के पास धन निर्मित करने की असीमित क्षमता है। और यदि सरकार पैसा खर्च करती है, तो इससे एक आवर्धन प्रक्रिया शुरू होती है, जिसकी बात हमने ऊपर की थी। हर बार जब सरकार 100 रु. खर्च करती है, तो वह चक्कर लगाता है, और आवर्धन प्रक्रिया के ज़रिए – बचत की प्रवृत्ति के हिसाब से – वह (मसलन)

300 रु. की माँग के बराबर हो जाता है। तो घाटे का बजट माँग बढ़ाने का पारम्परिक तरीका है। बढ़ी हुई माँग से रोज़गार बढ़ता है क्योंकि बाज़ार में विस्तार होता है। यानी आप धन का सम्बन्ध घाटे की वित्त व्यवस्था से जोड़ सकते हैं। स्थूल अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक स्तर पर इससे ज़्यादा किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।

अब तक मैंने धन की बात लेन-देन के एक माध्यम और एक कानूनी दस्तावेज़ के रूप में की। लेन-देन का माध्यम पर्याप्त नहीं होता, परन्तु *लेन-देन का माध्यम एक ऐसी चीज़ होती है जिसे देश का हर व्यक्ति स्वीकार करने को कानूनी तौर पर बाध्य है*।

धन की एक और भूमिका होती है।[2] वह दूसरी भूमिका यह है कि *धन मूल्य का एक भण्डार है*। इसका मतलब है कि चावल और गेहूँ के समान धन को भी भावी उपभोग के लिए भण्डारित किया जा सकता है। मगर चावल और गेहूँ के विपरीत इसका भण्डारण एक अनिश्चित व अनिर्दिष्ट अवधि के लिए किया जा सकता है।

आज मेरे पास 200 रु. हैं और मैं तय कर सकता हूँ कि इसमें से 100 या 150 रु. खर्च करूँगा और शेष खर्च न करके 'भविष्य' के लिए बचाऊँगा। इसका क्या अर्थ है? आम तौर पर मैं या तो इसे मुद्रा के रूप में रखता हूँ या कुछ कागज़ी सम्पत्ति खरीद लेता हूँ जो मुझे कुछ ब्याज देगी। यदि मैं दूसरा विकल्प अपनाता हूँ, तो मैं क्या कर रहा हूँ? मैं इस धन को भविष्य में कभी खर्च करूँगा। यह मेरे लिए मूल्य का एक भण्डार है। यह तो हम सब समझते हैं। और इसीलिए *धन का मात्रा सिद्धान्त* गलत है। आप जानते ही होंगे कि मशहूर ब्रिटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम ने कहा था – और यह आज भी प्रचलित है – कि यदि आप धन की मात्रा दुगनी कर दें तो कीमतें दुगनी हो जाएँगी; इसी को हम धन के मात्रा सिद्धान्त के रूप में जानते हैं।

अब, इस बात के दो कारण हैं कि क्यों यह ज़रूरी नहीं है कि कीमतें दुगनी हों। पहला कारण है कि लोग अपने हाथ में आने वाले धन में से कुछ को अपने पास ही रोक लेंगे। समूची राशि खर्च नहीं होगी। पूरे 200 रु. क्रय-शक्ति में शामिल नहीं होंगे; इसका एक अंश ही क्रय-शक्ति में शामिल होगा। और दूसरा कारण यह है कि यदि कोई इसे खर्च करेगा, तो इसका आवर्धक प्रभाव होगा। परिणामस्वरूप माँग में वृद्धि होगी। और माँग के अभाव के दौर में क्या होगा? लोग ज़्यादा उत्पादन करने लगेंगे। पहले आप उत्पादन नहीं कर रहे थे क्योंकि पर्याप्त माँग नहीं थी। अब माँग बढ़ गई है, तो व्यापार उत्पादन

2 दरअसल, कीन्स ने इसे सबसे स्पष्टता से प्रस्तुत किया था, और आगे चलकर इसे लेकर मुद्रावादियों (monetarists) और कीन्सवादियों के बीच काफी विवाद चला था।

बढ़ाएगा और ज़रूरी नहीं कि कीमतें बढ़ें क्योंकि उनके पास अतिरिक्त उत्पादन क्षमता है जिसका वे उपयोग करना चाहते हैं। *धन ने उत्पादन में वृद्धि कर दी है। और जब ऐसा होने की उम्मीद हो, तो ज़रूरी नहीं कि घाटे की वित्त व्यवस्था कीमतों में वृद्धि करे*। (यह बात कुछ मामलों में सही होगी, कुछ में नहीं। भारत में आज यदि सरकार ज़्यादा खर्च करेगी, तो यह बात किस हद तक सही होगी? मुझे लगता है कि कपड़ा जैसे कुछ क्षेत्रों में इससे उत्पादन बढ़ेगा। एक समय था जब हम सब रोज़गार गारंटी की बातें करते थे। तब सरकार खर्च कर सकती थी, और मेरा खयाल है कि इस खर्च का उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में मूल्य वृद्धि किए बगैर उत्पादन बढ़ाने में किया जा सकता था क्योंकि भण्डार गृहों में अनाज सड़ रहा था। आज हालात ठीक वैसे नहीं हैं।)

अर्थशास्त्र की बाकी चीज़ों के समान यह भी एक ऐसी चीज़ है जो उस समय पर या सन्दर्भ पर निर्भर करती है जब आप इसे कहते हैं। यदि आप ईमानदार हैं, तो यहीं आपकी राजनीति प्रवेश करती है। नीतियों के परिणाम हमेशा एक समान नहीं होते। राष्ट्रीय-करण या घाटे की वित्त व्यवस्था हमेशा अच्छे नहीं होते; राष्ट्रीयकरण या घाटे की वित्त व्यवस्था हमेशा बुरे भी नहीं होते। यह इस बात पर निर्भर करता है कि कौन-सा उद्योग, किस समय पर, यानी यह सन्दर्भ पर निर्भर करता है। यही आपको छात्रों को बार-बार सिखाना चाहिए। अच्छे नागरिक, जो अपने अर्थशास्त्र का कारगर उपयोग कर सकें, बनने के लिए यह एक बात है जिसे याद रखना होगाः कि *प्राकृतिक विज्ञान के विपरीत अर्थशास्त्र हर बार एक-से परिणाम नहीं देता*। रासायनिक तत्वों के विपरीत आर्थिक नीतियाँ हर समय एक ही तरह से संयोग नहीं करतीं (वैसे रसायन भी तापमान और दबाव की अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग ढंग से क्रिया करते हैं)। इसलिए कोई बात जो एक समय पर सही है, वह किसी और समय पर, किसी और सन्दर्भ में सही नहीं होती। और यह कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण बात है कि 'कब' – किन परिस्थितियों में – यह सही है। इस कारण से आर्थिक अनुभव और प्रमाण निर्णायक महत्व रखते हैं।

एक बार फिर दोहरा दूँ। दो बातें हैं जो मेरे खयाल में आपको छात्रों को पढ़ाने की ज़रूरत है। पहली है संघटन की भ्रान्ति। इसी वजह से ज़रूरी है कि आप स्थूल अर्थशास्त्र को सूक्ष्म अर्थशास्त्र से भिन्न एक विषय के रूप में जानें। दूसरी है कि धन एक निहायत विशेष सामाजिक उपकरण है जिसके ज़रिए चीज़ों को एक साथ लाया जाता है क्योंकि कानूनी रूप से सब इसे स्वीकार करने को बाध्य हैं। जब मैं अधिक खर्च करने का निर्णय करता हूँ, तो यह भविष्य से भी जुड़ता है। आपने ध्यान दिया होगा कि इसका

सम्बन्ध माँग की समस्या से भी है। क्यों? यदि हर व्यक्ति बचत करे और पैसा रोककर रखे, तो यह अर्थ-व्यवस्था के लिए अच्छा नहीं होगा क्योंकि यह क्रय-शक्ति को रोकने जैसा है। कोई भी चीज़ जिसे मुद्रा के रूप में रखा जाता है और उस अवधि में खर्च नहीं किया जाता, वह क्रय-शक्ति को रोकने के बराबर है। और यदि उस अवधि में माँग का अभाव है, तो यह एक समस्या बन जाती है। संक्षेप में कहें तो मुद्रा एक दुधारी तलवार है। इससे लेन-देन में सुविधा होती है क्योंकि सब लोग इसके माध्यम से लेन-देन करने को बाध्य हैं; यह *हर क्षण* लेन-देन में अवरोध भी बनती है क्योंकि इसे भविष्य में कभी खर्च करने के उद्देश्य से भण्डारित मूल्य के रूप में अलग भी रखा जा सकता है।

भारतीय अर्थशास्त्र और मात्रात्मक विधियाँ

स्कूल और कॉलेज की जो पाठ्य-पुस्तकें मैंने देखी हैं, उनमें प्रायः ढेर सारी जानकारी होती है। दरअसल, उनमें कभी-कभी ऐसी जानकारी होती है जो एक पेशेवर अर्थशास्त्री के रूप में मुझे पता नहीं होती। मगर आप छात्रों को महज़ कच्ची जानकारी देना तो नहीं चाहते। आप उन्हें क्या देना चाहते हैं? पहला, हम उन्हें एक मोटा-मोटा ऐतिहासिक नज़ारा देना चाहते हैंः स्वतंत्रता के वक्त भारतीय अर्थ-व्यवस्था क्या थी और आज क्या है। यह विभिन्न आयामों में किया जाता हैः हमारी आमदनी या हमारा सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) कैसे बढ़ा है? अर्थ-व्यवस्था का क्षेत्रवार या व्यवसाय-वार संघटन कैसे बदला है? खेती, उद्योग या सेवाओं का कितना अंश है? बस, और कुछ नहीं। और फिर, आज क्या स्थिति है? इतना तो सारी किताबें करती हैं और मुझे यकीन है कि सारे स्कूल/कॉलेज करते हैं। मगर जी.डी.पी., उसमें होने वाले बदलाव वगैरह सम्बन्धी सारे आँकड़े आपको क्यों चाहिए? क्यों चाहिए यह सब? आपको यह चाहिए क्योंकि हम यह भी जानना चाहते हैं कि *यह आमदनी लोगों के लिए क्या करती है*। अर्थात् यह विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न आय समूहों में, विभिन्न इलाकों के बीच कैसे बँटी है। यह गरीबी के सवाल से जुड़ा है। आप इस बात पर गौर कीजिए कि सर्वोच्च 10-20 प्रतिशत को क्या हो रहा है और सबसे निचले 20 प्रतिशत को क्या हो रहा है। आँकड़े उपलब्ध हैं और आप देख सकते हैं कि क्या हो रहा है। फिर भी, स्कूली पाठ्यपुस्तकें इस बात को पर्याप्त नहीं उभारतीं, खास तौर से यह बात नहीं उभारतीं कि समय के साथ जी.डी.पी. या आमदनी का पैटर्न कैसे बदला है।

एक उदाहरण के तौर पर, हम सब जानते हैं कि पिछले 20 वर्षों में भारत में 8 प्रतिशत की दर से विकास हुआ है। शेष दुनिया पिछले 20 वर्षों में 3 प्रतिशत की दर से बढ़ी है। यानी

भारत के विकास की रफ्तार प्रभावशाली रही है। अब आप गरीबी के आँकड़े देखिए, यानी उन लोगों के आँकड़े जो पोषण के मानक से नीचे हैं। आपको कुछ चौंकाने वाली बात देखने को मिलेगी और इससे स्पष्ट हो जाएगा कि मैं क्या कहने की कोशिश कर रहा हूँ। 1980 में भारत में दुनिया के गरीबों में से एक-चौथाई या उससे कम रहते थे, शायद दुनिया के गरीबों में से लगभग 20-25 प्रतिशत। यानी 1980 में दुनिया के सबसे निर्धन लोगों में से 20-25 प्रतिशत भारत में थे। तब से भारत का विकास दुनिया के औसत की तुलना में दुगनी रफ्तार से हुआ है। गरीबी को क्या हुआ? आज दुनिया के गरीबों में भारत का हिस्सा 40 प्रतिशत के करीब है! इसका मतलब है कि शेष दुनिया, उप-सहारा अफ्रीका समेत, में भारत की अपेक्षा गरीबी में ज़्यादा तेज़ी से कमी हुई जबकि उनका विकास कहीं धीमा रहा है। इस तथ्य की व्याख्या उत्पादन वृद्धि को गैर-बराबरी के सवाल से जोड़ने का एक तरीका हो सकता है। शेष दुनिया ने गरीबी में ज़्यादा तेज़ी से कमी की और उनका विकास धीमा रहा है! छात्रों को इसके बारे में सोचने को कहा जाना चाहिए। क्या आपको यह बात कभी टीवी पर सुनने को मिलती है? क्या आप हमारे प्रधानमंत्री को यह बात कहते सुनते हैं? क्या आपने कभी अपने वित्तमंत्री को इस पर चिन्तित होते देखा है? ऐसे सवालों की हत्या चुप्पी साधकर की जाती है, जानबूझकर या अनजाने में। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के अच्छे शिक्षण का मतलब होगा ऐसे सवालों को उठाना और उनके जवाबों पर विचार करना। यदि आप कहते हैं कि उच्च विकास के चलते गरीबी कम हो गई है (ऊपर-से-नीचे रिसाव के ज़रिए), तो आपको इस सन्दर्भ में इसकी चर्चा के लिए तैयार होना चाहिए।

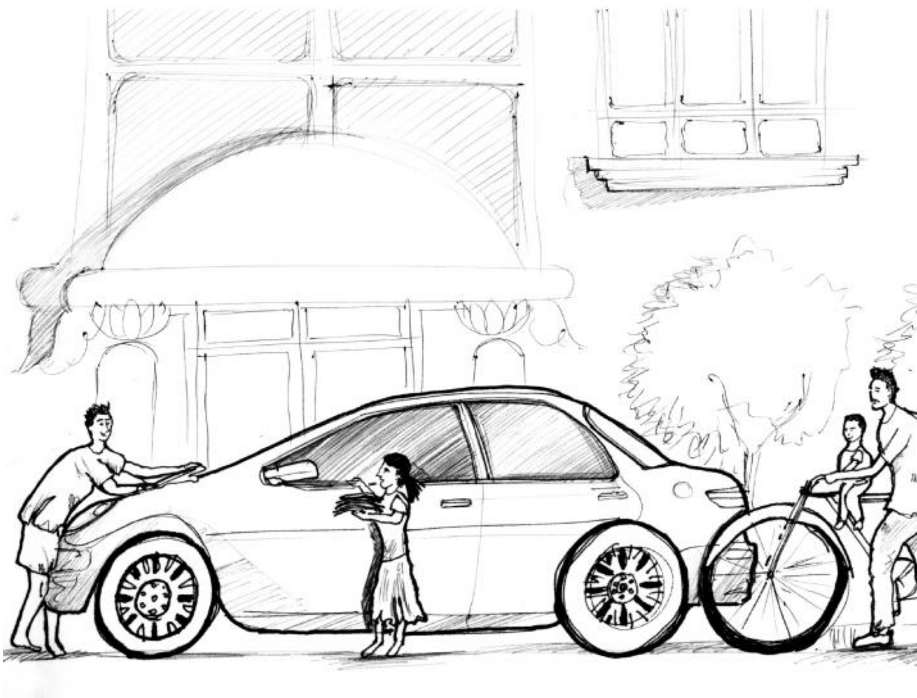
यह ज़रूरी नहीं है कि छात्रों को एकदम सही-सही संख्याएँ मालूम हों – वास्तव में ऐसे आँकड़े हैं भी नहीं क्योंकि ये परिभाषाओं पर निर्भर हैं और परिभाषाएँ बदलती रहती हैं। यह बात खास तौर से स्थूल आर्थिक योगों और उनके मापन को लेकर सही है।

जैसा कि मैंने सूक्ष्म व स्थूल अर्थशास्त्र की चर्चा के दौरान कहा था, भारतीय अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में भी विचारों को मज़बूत मात्रात्मक मापों का आधार दिया जाना चाहिए और इसमें मोटे-मोटे आँकड़े दिए जाने चाहिए। उपरोक्त उदाहरण, *जी.डी.पी. में तेज़ वृद्धि और साथ में गरीबी का धीमा उन्मूलन*, आँकड़ों के गुणात्मक उपयोग का एक उदाहरण है। गरीबी वगैरह के बारीक मापों में घुसने का मतलब प्रायः यह होता है कि मुख्य सवाल से ध्यान हट जाता है। गरीबी कैसे बढ़ती है या नहीं बढ़ती है, यह काफी हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि रोज़गार और जीविका की स्थिति किस तरह बदल रही है।

तो जानने की अगली चीज़ है व्यावसायिक संरचना और उसमें हो रहे बदलाव, और कि व्यावसायिक संरचना को क्या हुआ है।

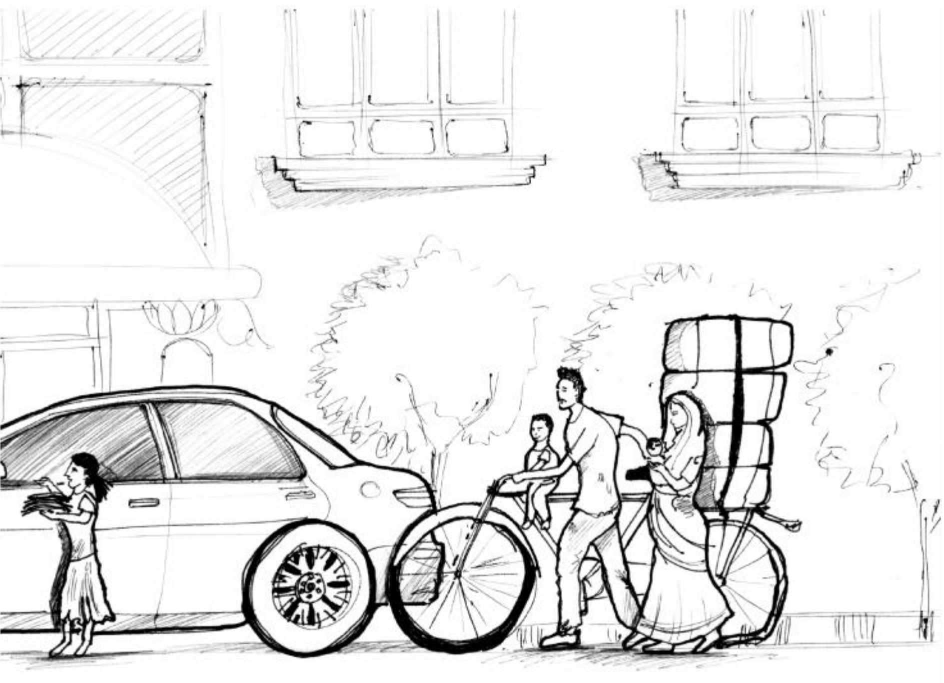
उच्च विकास के दौर में हमारा रिकॉर्ड घटिया रहा है। भारत ने 8 प्रतिशत की दर से विकास किया और नियमित रोज़गार 1 प्रतिशत की दर से बढ़ा। इससे पहले की अवधि में भारत का विकास 4 प्रतिशत था और रोज़गार में वृद्धि 2 प्रतिशत थी। यानी रोज़गार में वृद्धि धीमी हुई है। हमें इसके क्यों व कैसे में जाने की ज़रूरत नहीं है, मगर इस रुझान को जानना ज़रूरी है क्योंकि तुलनात्मक गरीबी के मामले में यह सबसे बड़े कारकों में से एक है। यही स्थिति उत्पादन के आँकड़े की भी है। और उन लोगों की भी है जो यह उत्पादन करते हैं। *आप अधिकाधिक उत्पादन करते हैं और ठीक-ठाक रूप से नियुक्त लोगों की संख्या में कम-से-कम वृद्धि होती है*। यह कॉर्पोरेट वृद्धि के तर्क का एक हिस्सा है।

जो तीसरी बात हमें जाननी चाहिए वह यह है कि भारत अत्यन्त समृद्ध देश क्यों है। संयुक्त राज्य के बाद दूसरे नम्बर पर भारत ही है! पता नहीं आप यह बात जानते हैं या नहीं। संयुक्त राज्य के बाद भारत में ही बहु-अरबपतियों की संख्या सबसे ज़्यादा है (ताइवान और सिंगापुर के कारण चीन के आँकड़े अनिश्चित हैं)। आज यह संख्या 50 को पार कर चुकी है। सिर्फ संयुक्त राज्य में ही इतने बहु-अरबपति हैं। अब मैं आपको कुछ और तथ्य बताता हूँ – क्या आप बेल्लारी, कर्नाटक के रेड्डी बन्धुओं को जानते हैं? क्या आपको पता है कि बेल्लारी में सबसे



बड़ी संख्या में निजी हवाई जहाज़ हैं? अब छात्रों को जो पता होना चाहिए वह हैः *एक ओर आमदनी में अत्यन्त तेज़ वृद्धि, वहीं दूसरी ओर घोर गरीबी जो कहीं धीमी रफ्तार से कम हो रही है*। हम अरबपति पैदा कर रहे हैं, और गरीब भी। मेरे खयाल में छात्रों को यह सवाल विचार करने को दिया जाना चाहिए ताकि वे एक के बाद एक होने वाले घोटाले का महत्व समझ सकें और देख सकें कि इनसे अरबपतियों का निर्माण होता है (यह एक अच्छा प्रोजेक्ट हो सकता है कि भारत के डॉलर अरबपतियों और उनकी सम्पत्ति के ज्ञात स्रोतों की पहचान की जाए)।

और वास्तव में अधिकांश समस्या तो यही है। हमारी राजनीति की, हमारे राजनैतिक दलों की अधिकांश समस्या। एक अन्तिम आँकड़ा। आज हमारी संसद में 300 से ज़्यादा सदस्य शब्दशः करोड़पति हैं। यह उनके द्वारा की गई सम्पत्ति की आधिकारिक घोषणा पर आधारित है। यदि आप अनाधिकृत सम्पत्ति को देखें, तो मुझे पता नहीं कितने इस सूची में से बाहर रह जाएँगे! आज आप कई करोड़ खर्च किए बगैर चुनाव नहीं लड़ सकते। किसी ने मुझे बताया था कि लोकसभा चुनाव के लिए औसत आँकड़ा 8 करोड़ है। तो नागरिकों के नाते हममें से अधिकांश लोग राजनीति से बाहर हैं क्योंकि पैसे ने हमें चुनावी राजनीति से खदेड़ दिया है! जिन लोगों को आप स्कूल में पढ़ा रहे हैं, वे यकीनन इस प्रजातंत्र का भविष्य देखने को जीवित रहेंगे। मेरा खयाल है कि उन्हें इन मुद्दों के प्रति संवेदी बनाया जाना चाहिए और भारतीय अर्थव्यवस्था के अध्यापन का वास्तविक महत्व यही



है। तब शायद वे यह सोचने लगेंगे कि प्रजातंत्र के इस रूप में कितना दम है। यदि नागरिक जानकारी से लैस हैं तो यह किसी भी प्रजातांत्रिक प्रशासन के लिए अच्छा होगा (जानकारी एक रणनीतिक चर है और सरकारें इसका उपयोग करती हैं)।

मात्रात्मक विधियों में दो चीज़ें हैं जिनकी हमें सांख्यिकी और गणित के लिहाज़ से ज़रूरत है। शुरुआत बीजगणित से करता हूँ। सूक्ष्म अर्थशास्त्र में अधिकांश चीज़ों की व्याख्या थोड़ी-सी कोऑर्डिनेट (निर्देशांक) ज्यामिति के ज़रिए अपेक्षाकृत आसानी से की जा सकती है, और थोड़े उच्चतर स्तर पर सीमान्त स्थितियों की व्याख्या के लिए थोड़े-से केल्कुलस की ज़रूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए, जब आप एक इनडिफरेंस वक्र खींचकर कहते हैं कि यह क्रमसूचक चयन का प्रस्तुतीकरण है, तो वहाँ आप केल्कुलस/ज्यामिति का उपयोग करके टैंजेंसी स्थिति बता सकते हैं, बजाय इसे एक इतिहास के रूप में बयान करने के। स्कूल स्तर पर छात्रों को इससे ज़्यादा गणित की ज़रूरत नहीं पड़ेगी – थोड़ी-सी कोऑर्डिनेट ज्यामिति और थोड़ा-सा एक/दो चर आधारित केल्कुलस। दूसरी चीज़ जिसकी हमें ज़रूरत है वह है सांख्यिकी।

मुझे पता नहीं कि आप रिग्रेशन (समाश्रयण) पढ़ाते हैं या नहीं। मेरे खयाल में यह एक चीज़ है जो एकदम बुनियादी है और पढ़ाई जानी चाहिए। मतलब, केन्द्रीय रुझान, यानी मध्यमान, बहुसम्मत मान, और बहुलक (mean, median, mode), और यह दिखाना कि ये तीनों कैसे अलग-अलग हैं। आप किन्हीं भी संख्याओं के लिए मध्यमान, बहुसम्मत मान और बहुलक के मानक विचलन का कलन कर सकते हैं और दिखा सकते हैं कि ये कैसे अलग-अलग हैं। और फिर आप सामान्य वितरण का चित्र दिखा सकते हैं जहाँ ये तीनों एक होते हैं। मेरे खयाल में इतना काफी है। +2 स्तर का छात्र जितना आत्मसात कर सकता है, उस लिहाज़ से यह पर्याप्त है। उदाहरण के तौर पर आप आमदनी/खर्च के वितरण के आँकड़ों का उपयोग कर सकते हैं।

हमारे शिक्षण की मूल समस्या यह है कि स्कूल स्तर पर छात्रों और शिक्षकों पर बहुत बोझ डाला जाता है। शिक्षकों को ढेर सारी किताबें दे दी जाती हैं और कहा जाता है कि यह सूक्ष्म अर्थशास्त्र में पढ़ाओ, वह स्थूल अर्थशास्त्र में, सांख्यिकी में, बीजगणित में। मेरा खयाल है इससे किसी को मदद नहीं मिलती, न शिक्षकों को, न छात्रों को। जो लोग अकादमिक क्षेत्र में बने रहेंगे, उनके लिए मौलिकता और निरन्तर दिलचस्पी के लिहाज़ से महत्व इस बात का है कि *बुनियादी विचारों पर पकड़ हो और उनकी प्रासंगिकता की छानबीन कर सकें*।

भारतीय अर्थशास्त्र को लीजिए। इसमें तमाम किस्म की जानकारी है जिसके बोझ में आप दब जाते हैं।

आप चाहें तो अमुक चीज़ या कोई अन्य चीज़ न लें मगर कुछ बुनियादी जानकारी लें जो आपको लगता है कि महत्वपूर्ण है, और फिर उसके महत्व की व्याख्या की ज़रूरत है। मेरे खयाल में आज यह महत्वपूर्ण है।

आजकल बाज़ार, उदारीकरण और उच्च विकास दर की बहुत बातें होती हैं। हमें इसका दूसरा पहलू पता होना चाहिए। आपके राजनैतिक पूर्वाग्रह हो सकते हैं, और यदि आप बौद्धिक रूप से ईमानदार हैं तो बता सकते हैं कि ये मेरे पूर्वाग्रह हैं। यह एक निजी निर्णय है।

आप यकीनन कह सकते हैं कि मैं ऐसा सोचता हूँ। मगर अर्थशास्त्र से आपको मदद मिलनी चाहिए कि तर्क कर सकें कि मैं ऐसा क्यों सोचता हूँ। अन्यथा, कई अन्य लोगों के समान आप यह विश्वास करते रहेंगे कि स्टॉक मार्केट में रोज़ाना होने वाले उतार-चढ़ाव अर्थ-व्यवस्था की सेहत दर्शाते हैं या उच्च विकास दर सबके लिए अच्छी है। ऐसे व्यापक रूप से प्रचलित विचारों पर सवाल उठाना और उनकी कड़ी जाँच-पड़ताल करना अर्थशास्त्र का मकसद है।

इसी तरह से आप अन्य अर्थ-शास्त्रियों द्वारा या मीडिया द्वारा उल्लू बनाए जाने से बच सकते हैं (जैसा कि मैंने शुरू में कहा था) और अपनी स्वतंत्र समझ बनाना शुरू कर सकते हैं।

यदि छात्र इसे अपने शिक्षक के साथ आसपास की दुनिया के बारे में सीखने की प्रक्रिया मानें तो यह सामाजिक अन्वेषण की एक रोमांचक शाखा साबित हो सकती है।

अमित भादुड़ी: कलकत्ता और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में डिग्री प्राप्त करने के बाद केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की। सन् 1966 में इसी विश्वविद्यालय द्वारा सबसे अच्छे शोध के लिए स्टीवेनसन पुरस्कार द्वारा सम्मानित किए गए। भारत और अन्य देशों के कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाया है। प्रोफेसर भादुड़ी की पाँच पुस्तकें और प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में 70 से भी ज़्यादा शोध लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

सभी चित्र: अमोल पखाले: आर्कीटेक्चर से स्नातक करने के बाद आई.आई.टी., मुम्बई के इंडस्ट्रीयल डिज़ाइन सेंटर से प्रोडक्ट डिज़ाइन में स्नातकोत्तर की पढ़ाई कर रहे हैं। मूलतः भोपाल के निवासी हैं।

यह लेख एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा 4-6 मार्च, 2010 को आयोजित 'नेशनल कॉन्फरेंस ऑन इकॉनॉमिक्स एजूकेशन इन स्कूल्स' में दिए गए विषय प्रवर्तन व्याख्यान का दूसरा भाग है। इसका पहला भाग पिछले अंक में प्रकाशित किया गया था।

यह व्याख्यान हिन्दी और अँग्रेज़ी भाषा में एकलव्य द्वारा पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया गया है।